राज देव शर्मा

बनाम

बिहार राज्य

8 अक्टूबर, 1998

[एम. एम. पूँछी, मुख्य न्यायमूर्ति, के. टी. थॉमस और एम. श्रीनिवासन, न्यायमूर्तिगण]

भारत का संविधान, 1950: अनुच्छेद 21.

त्वरित सुनवाई का अधिकार-तेरह साल पहले दर्ज प्राथमिकी-अभियोजन पक्ष ने चालीस गवाहों में से तीन गवाहों की जांच की-प्राथमिकी समेत पूरे अभियोजन को रद्द करने की याचिका- अस्वीकृत- अपील पर, यह माना गया कि त्वरित सुनवाई का अधिकार अनुच्छेद 21 से प्राप्त होता है और इसमें प्राथमिकी दर्ज होने की तारीख से लेकर आगे तक का पूरा चरण शामिल है-ए.आर. अंतुले के मामले में प्रतिपादित प्रस्ताव को अतिरिक्त निर्देशों द्वारा पूरक किया गया-भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947: धारा 5(2) के साथ पठित धारा 5(1)(ई)।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973: धारा 309(1)- अभियोजन बंद करने के लिए दंडाधिकारी की शक्ति- अभिनिर्धारित, यदि बार-बार अवसर दिए जाने के बावजूद गवाह पेश नहीं किए जाते हैं तो दंडाधिकारी अभियोजन बंद कर सकता है- मामले को एक दिन से आगे स्थगित करने के लिए कारण दर्ज किए जाने चाहिए।

अपीलकर्ता पर भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5(1)(ई) के तहत 2.11.1982 को अभियोग लगाया गया था। सीबीआई द्वारा 30.8.1985 को आरोपपत्र दाखिल किया गया और सीबीआई के विशेष न्यायाधीश ने अपराधों का संज्ञान लेते हुए पेशी के लिए समन जारी किया। 24.4.1987 को अपीलकर्ता न्यायालय में पेश हुआ और जमानत प्राप्त की। विशेष न्यायाधीश ने 4.3.1993 को आरोप तय किए। अभियोजन पक्ष द्वारा 1.6.1995 तक चालीस गवाहों में से तीन गवाहों की जांच की गई। अपीलकर्ता ने एक रिट याचिका दायर कर प्राथमिकी सहित संपूर्ण अभियोग को रद्द करने की प्रार्थना की, इस आधार पर कि प्राथमिकी दर्ज होने के बाद से तेरह वर्ष से अधिक समय बीत चुका है और उसके शीघ्र सुनवाई के अधिकार का उल्लंघन हुआ है। उच्च न्यायालय ने उक्त याचिका को यह कहते हुए

खारिज कर दिया कि विलंब का कारण यह था कि सीबीआई का केवल एक ही विशेष न्यायालय था और उसके समक्ष बड़ी संख्या में मामले लंबित थे। उच्च न्यायालय के इस आदेश से असंतुष्ट होकर अपीलकर्ता ने यह अपील दायर की है।

अपील को स्वीकार करते हुए और उच्च न्यायालय के आदेशों को अपास्त करते हुए, इस न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया: 1. ए.आर. अंतुले के मामले* में इस न्यायालय द्वारा स्पष्ट की गई कानूनी स्थिति कि त्वरित सुनवाई का अधिकार अनुच्छेद 21 से प्राप्त होता है और इसमें प्राथमिकी दर्ज होने की तारीख से लेकर आगे तक के सभी चरण शामिल हैं, अपरिवर्तित रहती है। (136-एच; 140-एफ)

**अब्दुल रहमान अंतुले और अन्य बनाम आर. एस. नायक,* [1992] 1 एस.सी.सी. 225, अनुसरण किया गया।

2. दंड प्रक्रिया संहिता इतनी व्यापक है कि यदि अभियोजन पक्ष बार-बार अवसर दिए जाने के बावजूद अपने गवाहों को पेश करने में असमर्थ हो तो दंडाधिकारी अभियोजन को बंद कर सकता है। धारा 309(1) दंड प्रक्रिया संहिता कार्यवाही को शीघ्रता से आयोजित करने और गवाहों की दिन-प्रतिदिन निरंतर जांच करने का आदेश देती है। यह धारा मामले को अगले दिन के लिए स्थगित करने के कारणों को दर्ज करने का भी प्रावधान करती है। [141-ए]

3. विशेष न्यायालय के समक्ष लंबित मामलों की बड़ी संख्या को देखते हुए अतिरिक्त दिशा-निर्देश निर्धारित करना आवश्यक है। इस प्रकार, *अंतुले* मामले में संवैधानिक पीठ द्वारा निर्धारित प्रस्तावों को निम्नलिखित निर्देशों के साथ पूरक किया जाता है: (141-बी)

1. ऐसे मामलों में जहां मुकदमा सात वर्ष से अधिक की कारावास अवधि से दंडनीय अपराध के लिए है, चाहे आरोपी जेल में हो या नहीं, न्यायालय अभियोजित साक्ष्य को अभियोजित द्वारा निर्धारित आरोपों पर अपना पक्ष रखने की तिथि से दो वर्ष की अवधि पूरी होने पर बंद कर देगा, चाहे अभियोजन पक्ष ने उक्त अवधि के भीतर सभी गवाहों की जांच की हो या नहीं, और न्यायालय मामले के मुकदमे के लिए कानून द्वारा निर्धारित अगले चरण पर आगे बढ़ सकता है; (141-सी)

2. उपरोक्त वर्णित मामलों में, यदि अभियुक्त अपराध के लिए निर्धारित अधिकतम सजा की अवधि के आधे से कम समय तक जेल में रहा हो, तो विचारण

न्यायालय अभियुक्त को उचित समझे जाने वाली शर्तों पर तुरंत जमानत पर रिहा कर देगा। (141-डी)

3. यदि विचाराधीन अपराध सात वर्ष से अधिक कारावास से दंडनीय है, तो चाहे आरोपी जेल में हो या नहीं, न्यायालय आरोपी द्वारा लगाए गए आरोपों पर अपना पक्ष रखने की तिथि से तीन वर्ष की अवधि पूरी होने पर अभियोजन साक्ष्य बंद कर देगा, चाहे अभियोजन पक्ष ने उक्त अवधि के भीतर सभी गवाहों की जांच की हो या नहीं, और न्यायालय मामले की सुनवाई के लिए कानून द्वारा निर्धारित अगले चरण पर आगे बढ़ सकता है, सिवाय इसके कि बहुत ही असाधारण कारणों से, जिनका उल्लेख किया जाएगा, और न्याय के हित में न्यायालय अभियोजन पक्ष को उपर्युक्त समय सीमा से परे साक्ष्य प्रस्तुत करने के लिए अतिरिक्त समय देना आवश्यक समझे। (141-ई-एफ)

4. परन्तु यदि उपर्युक्त अवधि के भीतर अभियोजन को पूरा करने में असमर्थता मुकदमे को लंबा खींचने में अभियुक्त के आचरण के कारण है, तो कोई भी न्यायालय खंड (1) से (3) के अंतर्गत आने वाले किसी भी मामले में उपर्युक्त अवधि के भीतर अभियोजन साक्ष्य को बंद करने के लिए बाध्य नहीं है। (141-जी)

5. जहां न्यायालय के आदेशों या विधि के संचालन द्वारा मुकदमे पर रोक लगा दी गई हो, वहां रोक लागू रहने की अवधि को अभियोजन साक्ष्य को समाप्त करने की उपरोक्त अवधि से बाहर रखा जाएगा। [141-एच]

करतार सिंह बनाम पंजाब राज्य, (1994) 3 एससीसी 569, व्याख्या की गई।

कॉमन कॉज़" बनाम भारत संघ, [1996) 4 एससीसी 33*; "कॉमन कॉज़" एक पंजीकृत सोसाइटी बनाम भारत संघ,* [1996) 6 एससीसी 775 और *हुसैनारा खातून एवं अन्य (IV) बनाम गृह सचिव, बिहार राज्य, पटना,* [1980) 1 एससीसी 98, पर भरोसा किया गया।

मेनका गांधी बनाम भारत संघ, [1978) 1 एससीसी 248; *महाराष्ट्र राज्य बनाम चम्पालाल पुंजाजी शाह,* [1981) 3 एससीसी 610 और *मधु मेहता बनाम भारत संघ,* (1989) 4 एससीसी 62, का उल्लेख किया गया है।

4. बिहार राज्य को निर्देश दिया जाता है कि वह तीन महीने की अवधि के भीतर कम से कम पांच विशेष न्यायालयों का गठन करे, जो भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 या इसके पूर्ववर्ती अधिनियम के अंतर्गत आने वाले अपराधों सहित अन्य संबंधित अपराधों के मामलों की सुनवाई करें। [142-सी)

दीवानी अपीलीय क्षेत्राधिकार: 1998 की आपराधिक अपील सं. 1045

सी.आर.डब्ल्यू.जे.सी. संख्या 809/1995 में पटना उच्च न्यायालय के दिनांक 7.12.95 के निर्णय एवं आदेश से।

अपीलकर्ता के लिए गोपाल सुब्रमण्यम, अतुल श्रीधरन, के. सी. सुदर्शन मेसर्स के. एल. मेहता एंड कंपनी के लिए।

उत्तरदाता के लिए बी. बी. सिंह।

सी.बी.आई. के लिए ए. एस. नांबियार और पी. परमेश्वरन।

न्यायालय का निर्णय निम्नलिखित द्वारा सुनाया गया

अनुमति प्रदान की गयी। (1) 2 नवंबर, 1982 को याचिकाकर्ता के खिलाफ भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम (1947 का अधिनियम 11) की धारा 5(2) और धारा 5(1)(ई) के तहत एक अपराध के संबंध में मामला दर्ज किया गया था। सीबीआई ने 30 अगस्त, 1985 को एक आरोप पत्र प्रस्तुत किया, जिसमें याचिकाकर्ता की कथित अनुपातहीन संपत्ति 5 नवंबर, 1982 तक 9,10,932.41 रुपये बताई गई थी, साथ ही 40 गवाहों और 20 दस्तावेजों की सूची भी शामिल थी। दक्षिण बिहार, पटना स्थित सीबीआई के विशेष न्यायाधीश ने 14 नवंबर, 1986 को अपराधों का संज्ञान लिया और 2 दिसंबर, 1986 को पेशी की तारीख तय करते हुए समन जारी किया। 24 अप्रैल, 1987 को याचिकाकर्ता न्यायालय में पेश हुआ, जमानत के लिए आवेदन किया और जमानत प्राप्त कर ली। विशेष न्यायाधीश द्वारा 4.3.1993 को आरोप तय किए गए थे। अभियोजन पक्ष द्वारा 1.6.1995 तक तीन गवाहों से पूछताछ की गई थी।

2. याचिकाकर्ता ने 5.12.1995 को पटना उच्च न्यायालय में एक रिट याचिका दायर की, जिसमें *अन्य बातों के साथ-साथ* प्राथमिकी सहित संपूर्ण अभियोजन को अभिखंडित करने की प्रार्थना की गई थी, इस आधार पर कि प्राथमिकी दर्ज किए जाने के बाद से 13 वर्ष

से अधिक समय बीत चुका था और इस प्रकार याचिकाकर्ता के शीघ्र सुनवाई के अधिकार का उल्लंघन हुआ था। आपराधिक रिट क्षेत्राधिकार वाद सं. 809/95 के रूप में पंजीकृत याचिका को उच्च न्यायालय ने 7.12.1995 को इस आधार पर खारिज कर दिया कि देरी का कारण यह था कि सीबीआई का केवल एक विशेष न्यायालय कार्यरत था और उसके समक्ष बड़ी संख्या में मामले लंबित थे। इसी आदेश को इस याचिका में चुनौती दी गई है।

3. नोटिस तामील होने और उत्तरदाता के पेश होने के बाद, सीबीआई, पटना के पुलिस अधीक्षक को द्वितीय उत्तरदाता बनाया गया। दिनांक 9.12.1996 के आदेश द्वारा विशेष न्यायाधीश से वर्तमान मामले के साथ-साथ इसी तरह लंबित अन्य मामलों की स्थिति के बारे में प्रतिवेदन मंगाई गई। विशेष न्यायाधीश की दिनांक 25.12.1996 की प्रतिवेदन में चौंकाने वाली स्थिति का खुलासा हुआ है। वर्तमान मामले के संबंध में, प्रतिवेदन का प्रासंगिक भाग इस प्रकार है:-

> "आरोपपत्र के अनुसार, कुल चालीस गवाह हैं, जिनमें से अभियोजन पक्ष ने आज तक केवल तीन गवाहों की जांच की है। अंतिम गवाह की जांच 3.9.93 को की गई थी। इसके बाद शेष गवाहों की जांच के लिए अभियोजन पक्ष को 36 बार सुनवाई स्थगित की गई। हालांकि, अभियोजन पक्ष शेष गवाहों में से किसी की भी जांच करने में विफल रहा है। अभियोजन पक्ष द्वारा गवाहों को पेश करने की अगली तिथि 6.1.97 निर्धारित की गई है। यह बताना उचित होगा कि मैंने स्वयं 21.9.96 को विशेष न्यायाधीश के रूप में कार्यभार संभाला था, जिसके बाद मैंने सीबीआई को गवाहों को पेश करने का निर्देश भी दिया था।"

4. प्रतिवेदन में अन्य लंबित मामलों का विवरण दिया गया है। दक्षिण बिहार सीबीआई से संबंधित 1975 से 1996 तक के 52 मामले साक्ष्य के चरण में लंबित हैं और उत्तर बिहार सीबीआई से संबंधित 1972 से 1992 तक के 44 मामले लंबित हैं। दिनांक 6.1.1997 के आदेश द्वारा, हमने पुलिस अधीक्षक को विशेष न्यायाधीश द्वारा अपनी प्रतिवेदन में लंबित मामलों के संबंध में की गई टिप्पणियों के स्पष्टीकरण हेतु प्रति शपथ पत्र दाखिल करने का निर्देश दिया था। पुलिस अधीक्षक द्वारा फरवरी 1997 में दाखिल किए गए प्रतिवाद हलफनामे में आरोपी पर दोष मढ़ने का प्रयास किया गया है। इसके कंडिका 9 में निम्नलिखित कहा गया है:-

"हालांकि, आदेश पत्र की जांच करने पर यह प्रतीत होता है कि पुलिस दस्तावेज़ उपलब्ध कराए जाने और निरीक्षण पूरा होने के बावजूद, अभियुक्तों ने आरोप तय करने में देरी करने के उद्देश्य से पुलिस दस्तावेज़ उपलब्ध कराने के लिए बार-बार याचिकाएँ दायर कीं। अभियुक्तों की ओर से दायर की गई ये याचिकाएँ आरोप तय करने में देरी करने का एक मात्र साधन मात्र थीं। अंततः 4.3.93 को आरोप तय किए गए; यह भी सच है कि आज तक केवल 3 गवाहों की ही जांच की गई है, इसका एकमात्र कारण यह है कि 19.4.94 से आज तक पटना में सीबीआई के विशेष मामलों की सुनवाई करने वाला केवल एक ही विशेष न्यायाधीश न्यायालय है। यह भी निवेदन किया गया है कि कई मौकों पर आरोपी अनुपस्थित रहे। गवाहों के विरुद्ध कोई जमानती या गैर-जमानती वारंट जारी नहीं किया जा सका, क्योंकि विचारण न्यायालय अन्य मामलों में व्यस्त रहती थी। यह उल्लेख करना प्रासंगिक है कि सीबीआई के विशेष न्यायाधीश बिहार राज्य के सतर्कता मामलों के विशेष न्यायाधीश और हरिजनों पर अत्याचार के मामलों के विशेष न्यायाधीश भी हैं। सीबीआई का विशेष न्यायालय सत्र न्यायालयों और दीवानी अपीलों की भी सुनवाई करता है, और इस प्रकार न्यायालय के पास भ्रष्टाचार विरोधी मामलों की सुनवाई के लिए शायद ही समय बचता है। इसके अतिरिक्त, जून 1995 में सीबीआई के समक्ष विशेष न्यायाधीश के पास 256 मामले लंबित थे, जिनमें बिहार सरकार के सतर्कता विभाग के मामले और पटना के जिला एवं सत्र न्यायाधीश द्वारा उन्हें सौंपे गए आपराधिक अपील, सत्र न्यायालयों की सुनवाई जैसे अन्य नियमित मामले शामिल थे।

5. याचिकाकर्ता द्वारा एक प्रत्युत्तर शपथपत्र दायर किया गया है, जिसमें प्रति-शपथपत्र में लगाए गए आरोपों का खंडन किया गया है तथा यह पुनः दोहराया गया है कि इस मामले में हुई देरी पूर्णतः अभियोजन पक्ष की त्रुटि के कारण हुई है, जिसके परिणामस्वरूप उसके त्वरित विचारण के मौलिक अधिकार का हनन हुआ है। इसमें यह भी कहा गया है कि अभियोजन पक्ष 48 अवसरों पर दस्तावेज प्रस्तुत करने में विफल रहा तथा 46 अवसरों पर साक्षियों को प्रस्तुत करने में भी असफल रहा।

6. हमारे समक्ष प्रश्न यह है कि क्या मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर, याचिकाकर्ता के विरुद्ध अभियोग को मुकदमे की सुनवाई में देरी के कारण अभिखंडित

किया जाना चाहिए। याचिकाकर्ता कभी भी कारावास में नहीं रहा है। जैसा कि पहले बताया गया है, उसकी जमानत याचिका उसी दिन स्वीकार कर ली गई थी जिस दिन वह न्यायालय के समक्ष पेश हुआ था।

7. इस न्यायालय ने अभियुक्तों के शीघ्र सुनवाई के अधिकार पर बार-बार बल दिया है। यद्यपि संविधान में इसे मौलिक अधिकार के रूप में सूचीबद्ध नहीं किया गया है, फिर भी न्यायालय ने इसे अनुच्छेद 21 के अंतर्गत निहित माना है। *हुसैनारा खातून बनाम गृह सचिव, बिहार राज्य*, [1980] 1 एससीसी 81 मामले में, न्यायालय ने लंबे समय तक कारावास झेल चुके विचाराधीन कैदियों के मामलों पर विचार करते हुए कहा कि ऐसी प्रक्रिया जिसके तहत इतनी बड़ी संख्या में लोगों को बिना सुनवाई के इतने लंबे समय तक सलाखों के पीछे रखा जाता है, अनुच्छेद 21 की आवश्यकता के अनुरूप उचित, न्यायसंगत या निष्पक्ष नहीं हो सकती। न्यायालय ने उचित, न्यायसंगत और निष्पक्ष प्रक्रिया सुनिश्चित करने के लिए कानून बनाने की आवश्यकता पर बल दिया, जिसका आपराधिक मुकदमों के मामले में *मेनका गांधी* मामले [1978 1 एससीसी 248] के बाद रचनात्मक अर्थ हो गया है।

8. *हुसैनारा खातून एवं अन्य* (IV) *बनाम गृह सचिव, बिहार राज्य, पटना*, [1980] 1 एस.सी.सी. 98 में इस न्यायालय ने माना कि वित्तीय बाधाएं और व्यय में प्राथमिकताएं सरकार को आरोपी को शीघ्र सुनवाई सुनिश्चित करने के अपने कर्तव्य से बचने में सक्षम नहीं बनाएंगी।

9. *महाराष्ट्र राज्य बनाम चम्पालाल पुंजाजी शान*, [1981] 3 एस.सी.सी. 610 के मामले में न्यायालय ने इस तथ्य पर संज्ञान लिया कि अभियोजन पक्ष कुछ मामलों में जानबूझकर विलंबकारी हथकंडे अपनाता है ताकि अभियुक्तों को यथासंभव लंबे समय तक जेल में रखा जा सके और उन्हें परेशान किया जा सके, विशेष रूप से तब जब साक्ष्य कमजोर हों और दोषसिद्धि की संभावना न हो। न्यायालय ने यह भी बताया कि समय बीतने के साथ अभियुक्त व्यक्ति के बचाव में गंभीर बाधा आ सकती है क्योंकि बचाव पक्ष के गवाह अनुपलब्ध हो सकते हैं और उनकी स्मृति कमजोर हो सकती है। हालांकि, न्यायालय ने यह भी स्पष्ट किया कि विलंबित सुनवाई अनिवार्य रूप से अनुचित सुनवाई नहीं है और यह देरी अभियुक्त के हथकंडों या स्वयं के आचरण के कारण भी हो सकती है।

10. *मधु मेहता बनाम भारत संघ*, [1989] 4 एससीसी 62 मामले में, इस न्यायालय ने मृत्युदंड को आजीवन कारावास में परिवर्तित करते हुए यह माना कि सजा के निष्पादन

का निर्णय करते समय अत्यधिक विलंब को ध्यान में रखा जाना चाहिए, न कि उसे आजीवन कारावास में परिवर्तित किया जाना चाहिए। न्यायालय ने यह भी कहा कि विलंब की कोई निश्चित अवधि निर्णायक कारक नहीं मानी जाएगी।

11.*अब्दुल रहमान अंतुले और अन्य बनाम आर.एस. नायक और एक अन्य*, [1992] 1 एससीसी 225 में, इस न्यायालय की संवैधानिक पीठ ने इस मामले के इस पहलू पर विचार किया और कुछ दिशा-निर्देश निर्धारित किए। निर्णय के प्रासंगिक अंश इस प्रकार हैं:-

> "हमारे समक्ष गंभीरता से उठाया गया एक अन्य प्रश्न त्वरित सुनवाई के अधिकार के उल्लंघन से उत्पन्न होने वाले परिणामों से संबंधित था। अभियुक्त के अधिवक्ता ने *शीला बारसे* और *स्ट्रंक* के मामलों में दिए गए अवलोकनों के आधार पर तर्क दिया कि एकमात्र परिणाम आरोपों और/या दोषसिद्धि को अभिखंडित करना है, जैसा भी मामला हो। सामान्यतः, ऐसा हो सकता है। लेकिन हम यह नहीं मानते कि न्यायालय के पास यही एकमात्र आदेश उपलब्ध है। किसी विशेष मामले में, अपराध की प्रकृति सहित तथ्य ऐसे हो सकते हैं कि आरोपों को अभिखंडित करना न्याय के हित में न हो। अंततः, प्रत्येक अपराध - विशेषकर आर्थिक अपराध, सार्वजनिक अधिकारियों से संबंधित अपराध और खाद्य पदार्थों में मिलावट - समाज के विरुद्ध अपराध है। वास्तव में, अपराधी पर मुकदमा चलाने वाला समाज - राज्य ही है। इस संदर्भ में, हम *चंपालाल पुंजाजी शाह* मामले में इस न्यायालय के अवलोकनों को याद कर सकते हैं। ऐसे मामलों में, जहां आरोपों/दोषसिद्धि को अभिखंडित करना न्याय के हित में न हो, न्यायालय मामले की परिस्थितियों में उचित समझे जाने वाले उपयुक्त आदेश पारित करने के लिए स्वतंत्र होगा। उदाहरण के लिए, ऐसे आदेश मुकदमे की शीघ्र सुनवाई और उसे एक निर्धारित अवधि के भीतर समाप्त करने का आदेश, मुकदमे की सुनवाई और दोषसिद्धि के बाद मामला सामने आने पर सजा में कमी करने का आदेश आदि हो सकते हैं।
>
> उपरोक्त चर्चा के आलोक में, निम्नलिखित प्रस्ताव दिशा-निर्देशों के रूप में सामने आते हैं। हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि ये प्रस्ताव संपूर्ण नहीं हैं। सभी परिस्थितियों का पूर्वानुमान लगाना कठिन है। न ही कोई कठोर और निश्चित नियम निर्धारित करना संभव है। ये प्रस्ताव इस प्रकार हैं:-
>
> (1) संविधान के अनुच्छेद 21 में निहित निष्पक्ष, न्यायसंगत और उचित

प्रक्रिया के तहत आरोपी को शीघ्र सुनवाई का अधिकार प्राप्त है। शीघ्र सुनवाई का अधिकार आरोपी का अधिकार है। यह तथ्य कि शीघ्र सुनवाई जनहित में है या सामाजिक हित में है, इससे आरोपी के इस अधिकार में कोई कमी नहीं आती। सभी संबंधित पक्षों के हित में है कि आरोपी के दोष या निर्दोषता का निर्धारण परिस्थितियों के अनुसार यथाशीघ्र किया जाए।

(2) अनुच्छेद 21 से प्राप्त शीघ्र सुनवाई का अधिकार सभी चरणों को समाहित करता है, अर्थात् जांच, पूछताछ, मुकदमा, अपील, पुनरीक्षण और पुनर्विचार। न्यायालय ने इस अधिकार को इसी प्रकार समझा है और इसे सीमित दृष्टिकोण से देखने का कोई कारण नहीं है।

(3) अभियुक्त के दृष्टिकोण से त्वरित सुनवाई के अधिकार से संबंधित चिंताएँ इस प्रकार हैं:-

(क) रिमांड और दोषसिद्धि पूर्व हिरासत की अवधि यथासंभव कम होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, आरोपी को दोषसिद्धि से पहले अनावश्यक या अत्यधिक लंबी कैद में नहीं रखा जाना चाहिए;

(ख) अत्यधिक लंबी जांच, पूछताछ या मुकदमे के परिणामस्वरूप होने वाली चिंता, परेशानी, खर्च और उसके व्यवसाय और शांति में व्यवधान न्यूनतम होना चाहिए; और

(ग) अनुचित देरी से आरोपी की आत्मरक्षा करने की क्षमता प्रभावित हो सकती है, चाहे वह मृत्यु, लापता होने, गवाहों की अनुपलब्धता या किसी अन्य कारण से हो।

(4) साथ ही, इस तथ्य को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता कि आमतौर पर आरोपी ही कार्यवाही में देरी करने में रुचि रखता है। अक्सर कहा जाता है, "देरी करना बचाव पक्ष की एक जानी-मानी रणनीति है"। चूंकि आरोपी के अपराध को साबित करने का भार अभियोजन पक्ष पर होता है, इसलिए देरी आमतौर पर अभियोजन पक्ष के हित में नहीं होती। गवाहों की अनुपलब्धता, समय बीतने के साथ सबूतों का गायब हो जाना वास्तव में अभियोजन पक्ष के हित के विरुद्ध काम करता है। बेशक, ऐसे मामले भी हो सकते हैं जहां अभियोजन पक्ष, किसी भी कारण से,

कार्यवाही में देरी करता है। इसलिए, हर उस मामले में जहां शीघ्र सुनवाई के अधिकार का उल्लंघन होने का आरोप लगाया गया है, पहला प्रश्न यह है कि देरी के लिए कौन जिम्मेदार है? किसी भी पक्ष द्वारा अपने अधिकारों और हितों की रक्षा के लिए सद्भावनापूर्वक की गई कार्यवाही को देरी करने की रणनीति नहीं माना जा सकता है और न ही ऐसी कार्यवाही में लगने वाले समय को देरी में गिना जा सकता है। यह स्पष्ट है कि तुच्छ कार्यवाही या केवल सुनवाई की तारीख में देरी करने के लिए की गई कार्यवाही को सद्भावनापूर्वक की गई कार्यवाही नहीं माना जा सकता है। किसी आवेदन/याचिका को स्वीकार कर लिया जाना और उच्च न्यायालय द्वारा स्थगन आदेश जारी किया जाना मात्र यह साबित नहीं करता कि कार्यवाही निरर्थक नहीं है। अक्सर ये स्थगन आदेश एकतरफा प्रतिनिधित्व के आधार पर प्राप्त किए जाते हैं।

(5) यह निर्धारित करते समय कि क्या अनुचित विलंब हुआ है (जिसके परिणामस्वरूप शीघ्र सुनवाई के अधिकार का उल्लंघन हुआ है), सभी संबंधित परिस्थितियों पर विचार करना आवश्यक है, जिनमें अपराध की प्रकृति, अभियुक्तों और गवाहों की संख्या, संबंधित न्यायालय का कार्यभार, प्रचलित स्थानीय परिस्थितियाँ आदि शामिल हैं - जिन्हें प्रणालीगत विलंब कहा जाता है। यह सत्य है कि शीघ्र सुनवाई सुनिश्चित करना राज्य का दायित्व है और राज्य में न्यायपालिका भी शामिल है, लेकिन ऐसे मामलों में सैद्धांतिक दृष्टिकोण के बजाय यथार्थवादी और व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए।

(6) हर देरी से आरोपी को नुकसान होना जरूरी नहीं है। कुछ देरी वास्तव में उसके फायदे में भी हो सकती है। जैसा कि पॉवेल, जे. ने *बार्कर* मामले में कहा है, "यह कहना मुश्किल है कि किस हद तक देरी बहुत ज्यादा है, खासकर उस व्यवस्था में जहां न्याय त्वरित लेकिन सोच-समझकर किया जाना चाहिए।" इसी विचार को व्हाइट, जे. ने *यू.एस. बनाम इवेल* मामले में निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है:

'.....छठे संशोधन के तहत शीघ्र सुनवाई का अधिकार स्वाभाविक रूप से सापेक्ष है, विलंब के साथ संगत है, और इसके आवश्यक तत्व अधिक गति के बजाय व्यवस्थित शीघ्रता हैं; और क्या किसी अभियोग को पूरा करने में देरी अधिकारों का असंवैधानिक हनन है, यह सभी परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

हालांकि, अत्यधिक विलंब को पूर्वाग्रह का संभावित प्रमाण माना जा सकता है। इस

संदर्भ में, आरोपी के अभियोग का तथ्य भी एक प्रासंगिक तथ्य होगा। अभियोजन को उत्पीड़न में तब्दील नहीं होने देना चाहिए। लेकिन अभियोजन कब उत्पीड़न बन जाता है, यह फिर से मामले के तथ्यों पर निर्भर करता है।

(7) हम तथाकथित 'मांग' नियम को मान्यता नहीं दे सकते और न ही उसे प्रभावी बना सकते हैं। एक आरोपी स्वयं अपना मुकदमा नहीं लड़ सकता; उस पर अभियोजन पक्ष के कहने पर न्यायालय द्वारा मुकदमा चलाया जाता है। इसलिए, आरोपी की त्वरित सुनवाई से इनकार करने की दलील को इस आधार पर खारिज नहीं किया जा सकता कि आरोपी ने कभी त्वरित सुनवाई की मांग नहीं की। यदि किसी मामले में उसने ऐसी मांग की हो और फिर भी उस पर त्वरित सुनवाई न हुई हो, तो यह उसके पक्ष में एक सकारात्मक बिंदु होगा, लेकिन केवल त्वरित सुनवाई की मांग न करना आरोपी के विरुद्ध नहीं रखा जा सकता। यहां तक कि अमेरिका में भी, *बार्कर* और अन्य बाद के मामलों में मांग नियम की प्रासंगिकता काफी हद तक कम कर दी गई है।

(8) अंततः, न्यायालय को कई प्रासंगिक कारकों को संतुलित करना और तौलना होता है - संतुलन परीक्षण या 'संतुलन प्रक्रिया' - और प्रत्येक मामले में यह निर्धारित करना होता है कि किसी दिए गए मामले में शीघ्र सुनवाई के अधिकार से वंचित किया गया है या नहीं।

(9) सामान्यतः, यदि न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि किसी अभियुक्त के शीघ्र सुनवाई के अधिकार का उल्लंघन हुआ है, तो आरोप या दोषसिद्धि, जैसा भी मामला हो, अभिखंडित कर दी जाएगी। परन्तु यही एकमात्र विकल्प नहीं है। किसी मामले में अपराध की प्रकृति और अन्य परिस्थितियाँ ऐसी हो सकती हैं कि कार्यवाही अभिखंडित करना न्याय के हित में न हो। ऐसे मामले में, न्यायालय उचित अन्य आदेश दे सकता है - जिसमें यदि मुकदमा समाप्त नहीं हुआ है तो उसे एक निश्चित समय सीमा के भीतर समाप्त करने का आदेश देना या यदि मुकदमा समाप्त हो गया है तो सजा कम करना शामिल है - जो मामले की परिस्थितियों के अनुसार न्यायसंगत और उचित समझा जाए।

(10) अपराधों के मुकदमे के लिए कोई समय सीमा निर्धारित करना न तो उचित है और न ही व्यावहारिक। ऐसा कोई भी नियम सीमित दायरे में ही लागू

होगा। ऐसा नियम केवल अभियोजन पक्ष पर औचित्य साबित करने का भार डालने के लिए नहीं बनाया जा सकता। त्वरित सुनवाई के अधिकार से वंचित किए जाने की प्रत्येक शिकायत में, देरी का औचित्य सिद्ध करना और उसका स्पष्टीकरण देना प्राथमिक रूप से अभियोजन पक्ष का कर्तव्य है। साथ ही, न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह शिकायत पर निर्णय देने से पहले मामले की सभी परिस्थितियों का मूल्यांकन करे। अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने भी छठे संशोधन के बावजूद बार-बार ऐसी कोई समय सीमा निर्धारित करने से इनकार किया है। हमारा यह भी मानना नहीं है कि ऐसी कोई समय सीमा निर्धारित न करने से त्वरित सुनवाई के अधिकार की गारंटी अप्रभावी हो जाती है।

(11) शीघ्र विचारण के अधिकार के वंचन पर आधारित आपत्ति तथा उस आधार पर राहत की मांग, सर्वप्रथम उच्च न्यायालय के समक्ष उठाई जानी चाहिए। यद्यपि उच्च न्यायालय ऐसे निवेदन पर विचार करता है, सामान्यतः उसे कार्यवाही पर स्थगन नहीं देना चाहिए, सिवाय उन मामलों के जो गंभीर एवं अपवादात्मक प्रकृति के हों। तथापि, उच्च न्यायालय में ऐसी कार्यवाहियों का निस्तारण प्राथमिकता के आधार पर किया जाना चाहिए।

12. *करतार सिंह बनाम पंजाब राज्य,* [1994] 3 एससीसी 569 में, एक अन्य संवैधानिक पीठ, जिसमें हममें से एक (एम.एम. पुंछी, न्यायमूर्ति, उस समय) पक्षकार थे, ने इस प्रकार टिप्पणी की:

> त्वरित सुनवाई की अवधारणा को हमारे संविधान के अधीन प्रदत्त एवं संरक्षित जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार के एक अनिवार्य अंग के रूप में अनुच्छेद 21 में अंतर्निहित माना गया है। त्वरित सुनवाई का अधिकार गिरफ्तारी और उसके परिणामस्वरूप कारावास द्वारा लगाए गए वास्तविक प्रतिबंध से शुरू होता है और जांच, पूछताछ, मुकदमा, अपील और पुनरीक्षण सहित सभी चरणों में जारी रहता है, ताकि अपराध के घटित होने से लेकर उसके अंतिम निर्णय तक अनुचित और परिहार्य देरी से होने वाले किसी भी संभावित पूर्वाग्रह को टाला जा सके। इस संदर्भ में, यह ध्यान दिया जा सकता है कि त्वरित सुनवाई की संवैधानिक गारंटी दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 309 में उचित रूप से परिलक्षित होती है.....।

बेशक, इस सिद्धांत के तहत जांच से बचने के लिए कोई भी समय अवधि अपने आप में बहुत लंबी नहीं होती, न ही अभियुक्त से मामलों के निपटारे में देरी से हुए वास्तविक नुकसान को साबित करने की अपेक्षा की जाती है। दूसरी ओर, न्यायालय को एक संतुलित दृष्टिकोण अपनाना होता है, जिसमें अभियुक्त को अनावश्यक देरी से होने वाले संभावित नुकसानों और हानियों को ध्यान में रखते हुए यह निर्धारित करना होता है कि क्या किसी आपराधिक कार्यवाही में अभियुक्त को अनुचित देरी के कारण शीघ्र सुनवाई के अपने अधिकार से वंचित किया गया है, जिसकी पहचान निम्नलिखित कारकों द्वारा की जा सकती है - (1) देरी की अवधि, (2) देरी का औचित्य, (3) अभियुक्त द्वारा शीघ्र सुनवाई के अपने अधिकार का दावा, और (4) ऐसी देरी से अभियुक्त को हुआ नुकसान। हालांकि, देरी का तथ्य प्रत्येक मामले की परिस्थितियों पर निर्भर करता है क्योंकि देरी के कारण भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, जैसे कि अपराधों के व्यापक प्रसार और राष्ट्रीय या अंतरराष्ट्रीय स्तर पर इसके सुनियोजित नेटवर्क के कारण जांच में देरी, गवाहों की जानबूझकर अनुपस्थिति, न्यायालय में लंबित मामलों की अधिकता आदि।

13. उपरोक्त टिप्पणियों को उस मामले से जुड़े मुद्दों के संदर्भ में समझा जाना चाहिए। आतंकवादी और विघटनकारी गतिविधियाँ (रोकथाम) अधिनियम, 1987 (टाडा) की संवैधानिक वैधता पर सवाल उठाया गया था और पाँच न्यायाधीशों की पीठ विभिन्न दलीलों पर विचार कर रही थी, जिनमें यह संभावना भी शामिल थी कि टाडा के तहत अपराधों के आरोपी व्यक्ति जमानत देने से संबंधित कठोर और सख्त प्रावधानों के कारण लंबे समय तक विचाराधीन कैदी के रूप में जेल में रह सकते हैं। इसलिए, उसमें की गई टिप्पणियों को किसी भी तरह से *ए.आर. अंतुले,* [1992] जे एससीसी 225 में सात न्यायाधीशों की पीठ द्वारा की गई टिप्पणियों से भिन्न नहीं माना जा सकता है। अतः, *ए.आर. अंतुले* में इस न्यायालय द्वारा स्पष्ट की गई कानूनी स्थिति कि त्वरित सुनवाई का अधिकार अनुच्छेद 21 से प्राप्त होता है और इसमें प्राथमिकी दर्ज होने की तारीख से लेकर आगे तक के सभी चरण शामिल हैं, अपरिवर्तित रहती है।

14. लेकिन पटना की विशेष न्यायालय में दो दशकों से अधिक समय से लंबित मामलों की भारी संख्या को देखते हुए, इस मामले पर विस्तार से विचार करना और अतिरिक्त दिशा-निर्देश जारी करना आवश्यक हो गया है। संभवतः अन्य राज्यों में भी इसी

प्रकार के मामले लंबित हैं।

15. दंड प्रक्रिया संहिता इतनी व्यापक है कि यदि अभियोजन पक्ष बार-बार अवसर दिए जाने के बावजूद अपने गवाहों को पेश करने में असमर्थ रहता है, तो दंडाधिकारी अभियोजन को समाप्त कर सकता है। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 309(1) इस बात का समर्थन करती है, क्योंकि इसमें कार्यवाही को शीघ्रता से संचालित करने और प्रतिदिन गवाहों की निरंतर जांच करने का प्रावधान है। यह धारा मामले को अगले दिन के लिए स्थगित करने के कारणों को दर्ज करने का भी प्रावधान करती है।

16. मामले पर गहन विचार करने के बाद, हम *अंतुले* के मामले (उपरोक्त) में संवैधानिक पीठ द्वारा दिए गए प्रस्तावों को निम्नलिखित निर्देशों के साथ पूरक करते हैं:-

(i) जिन मामलों में मुकदमा सात वर्ष से अधिक की कारावास की सजा वाले अपराध के लिए चलाया जा रहा है, चाहे आरोपी जेल में हो या नहीं, न्यायालय आरोपी द्वारा लगाए गए आरोपों पर अपना पक्ष रखने की तिथि से दो वर्ष की अवधि पूरी होने पर अभियोजन साक्ष्य को बंद कर देगा, चाहे अभियोजन पक्ष ने उक्त अवधि के भीतर सभी गवाहों से पूछताछ की हो या नहीं, और न्यायालय मामले की सुनवाई के लिए कानून द्वारा निर्धारित अगले चरण पर आगे बढ़ सकता है।

(ii) उपर्युक्त प्रकार के मामलों में, यदि अभियुक्त उस अपराध के लिए निर्धारित अधिकतम दण्डावधि के कम-से-कम आधे समय तक कारावास में रह चुका है, तो विचारण न्यायालय उसे तत्काल जमानत पर रिहा करेगा, ऐसी शर्तों पर जिन्हें वह न्यायालय उपयुक्त समझे।

(iii) यदि विचाराधीन अपराध में 7 वर्ष से अधिक की कारावास की सजा का प्रावधान है, तो चाहे आरोपी जेल में हो या न हो, न्यायालय आरोपी द्वारा लगाए गए आरोप पर अपना पक्ष रखने की तिथि से तीन वर्ष की अवधि पूरी होने पर अभियोजन साक्ष्य को बंद कर देगा, चाहे अभियोजन पक्ष ने उक्त अवधि के भीतर सभी गवाहों से पूछताछ की हो या नहीं। इसके बाद न्यायालय मामले की सुनवाई के लिए कानून द्वारा निर्धारित अगले चरण पर आगे बढ़ सकता है, सिवाय उन असाधारण कारणों के जिन्हें दर्ज किया जाएगा और न्याय के हित में न्यायालय अभियोजन पक्ष को उपरोक्त समय सीमा से परे साक्ष्य प्रस्तुत करने के लिए अतिरिक्त समय देना आवश्यक समझता हो।

(iv) लेकिन यदि उपर्युक्त अवधि के भीतर अभियोजन को पूरा करने में असमर्थता मुकदमे को लंबा खींचने में आरोपी के आचरण के कारण है, तो कोई भी न्यायालय खंड (i) से (iii) के अंतर्गत आने वाले किसी भी मामले में उपर्युक्त अवधि के भीतर अभियोजन साक्ष्य को बंद करने के लिए बाध्य नहीं है।

(v) जहां न्यायालय के आदेशों या कानून के संचालन द्वारा मुकदमे पर रोक लगा दी गई हो, उस अवधि को, जिस दौरान रोक लागू रही हो, अभियोजन साक्ष्य को बंद करने की उपरोक्त अवधि से बाहर रखा जाएगा। उपरोक्त निर्देश, इस न्यायालय द्वारा *"कॉमन कॉज़" बनाम भारत संघ,* [1996] 4 एससीसी 33 में जारी किए गए निर्देशों के अतिरिक्त और उन पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना होंगे, जिन्हें इसी पीठ ने *"कॉमन कॉज़" एक पंजीकृत सोसायटी बनाम भारत संघ,* [1996] 6 एससीसी 775 में प्रकाशित आदेश के माध्यम से संशोधित किया है।

17. परिणामस्वरूप, हम उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित आदेश को अभिखंडित करते हैं और सीबीआई दक्षिण बिहार, पटना के विशेष न्यायाधीश को इस निर्णय के अनुसरण में याचिकाकर्ता के मामले में उचित आदेश पारित करने का निर्देश देते हैं। अपील को तदनुसार स्वीकार किया जाता है।

18. हम बिहार राज्य के संबंध में निम्नलिखित अतिरिक्त निर्देश जारी करते हैं:-

बिहार राज्य आज से तीन महीने की अवधि के भीतर कम से कम पांच विशेष न्यायालयों का गठन करेगा, जो भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम 1988 या इसके पूर्ववर्ती संबंधित अधिनियम के अंतर्गत आने वाले अपराधों से संबंधित मामलों की सुनवाई करेंगे, जिनमें अन्य संबद्ध अपराध शामिल हो भी सकते हैं और नहीं भी।

एस.वी.के.आई अपील स्वीकार की गई।

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।